Cognitive Thinking: An International Journal of Interdisciplinary Studies

Volume-1, Issue-1 (January-March 2025) pp.16-24, ISSN: XXXX-XXXX
www.cognitivethinking.in

गीता में कर्म योग

डॉ० अनिता शर्मा
संस्कृत विभाग, योगीनाथ डिग्री कॉलेज, सरूरपुर कला

सारांश (Abstract):
भगवद गीता में कर्म (Action) का सिद्धांत जीवन के उद्देश्य, धर्म और आत्मा के संबंध को समझाता है। गीता के अनुसार, कर्म को दो मुख्य प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है: संचित कर्म (जो पहले से किए गए कर्म हैं), वर्तमान कर्म (जो वर्तमान में किया जा रहा है), और निष्काम कर्म (जिसे बिना किसी फल की इच्छा के किया जाता है)। भगवान श्री कृष्ण ने अर्जुन को बताया कि हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने निर्धारित कर्मों को निष्कलंक रूप से और बिना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ के करे। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि कर्मों का फल भगवान पर छोड़ देना चाहिए, क्योंकि इस संसार में किसी भी कर्म का फल केवल ईश्वर के आदेशानुसार ही होता है।
गीता में कर्म योग को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है, जो यह सिखाता है कि कर्म करते हुए मनुष्य को न तो परिणामों की चिंता करनी चाहिए, न ही किसी प्रकार का अहंकार या स्वार्थ पालना चाहिए। निष्काम कर्म से ही आत्मा का शुद्धिकरण होता है, और यह आत्मज्ञान की ओर मार्ग प्रशस्त करता है।
इस प्रकार गीता का कर्म सिद्धांत जीवन में संतुलन, समर्पण और ध्यान की आवश्यकता को उजागर करता है, जो आत्मा के उन्नति की ओर मार्गदर्शन करता है।

कर्म योग का अर्थ एवम् प्रस्तावना:- कर्म योग दो शब्दो से मिलकर बना है "कर्म" और "योग" । योग के लिए कर्म की जरूरत नही कर्म से परे जाना योग है। इन्सान में सन्तुलन लाने के लिए कर्म योग की शुरुवात की गई । कर्म योग को दुर्भाग्यवश सेवा कहा जाता है मगर ऐसा नहीं है। यह उन प्रभावों को नष्ट करने का तरीका है। जो आपने जमा कर रखे है। अगर आप किसी कर्म को स्वयं खुशी से शामिल करते है तो वह कर्म योग है।

कर्मयोग अथवा कर्ममार्ग सुनकर सामाजिक कार्यकर्ता ,दानदाता एवं स्वयंसेवी लोगों की छवि मन में उभरती है । वास्तव में अधिकांशतः ऐसे सामाजिक अथवा स्वंयसेवी लोगों द्वारा किया जाने वाला दान - पुण्य भावनात्मक स्तर पर प्रचार व प्रसिद्धि के लिए किया जाता है इसलिए यह वास्तविक कर्म योग नहीं होता । तो वास्तव में कर्मयोग क्या है-

कर्मयोग क्या है- कर्मयोग से तात्पर्य अनासक्त भाव से कर्म करना कर्म के सही स्वरूप का ज्ञान है। कर्मयोग दो शब्दो से मिलकर बना है। "कर्म"तथा "योग" कर्मयोग के सन्दर्भ ग्रन्थ गीता, योगवसिष्ठ व अन्य है।

इस योग में कर्म के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति की जाती है श्रीमद्भागवत में कर्मयोग को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ग्रहस्थ और कर्मठ व्याक्ति के लिए यह योग अधिक प्रयुक्त है। हम में से प्रत्येक किसी न किसी कार्य में लगा हुआ है पर हममें से अधिकांश अपनी भक्ति का अधिकतर भाग व्यर्थ खो देते हैं। क्योकि हम कर्म के रहस्य को नहीं जानते । जीवन की रक्षा के लिए कर्म करना आवश्य है। किन्तु यह भी एक सत्य है कि दुःख की उत्पत्ति कर्म से ही होती है। सारे दुःख और कष्ट आसक्ति से उत्पन्न हुआ करते है । कोई व्यक्ति कर्म करना चाहता है। वह किसी की भलाई करना चाहता है। और यह भी दावा है कि वह कृतघ्न निकलेगा और भूलाई करने वाले के विरुद्ध कार्य करेगा । इस प्रकार सहृदय भी दुःख देता है । फल यह होता है कि घटना मनुष्य को कर्म से दूर भगाती है । यह दुःख या कष्ट का भय कर्म का बड़ा भाग नष्ठ कर देता है। कर्मयोग सिखाता है कि कर्म के लिए कर्म करो। कर्मयोगी इस लिए कर्म करता है कि कर्म करना उसे अच्छा लगता है। और उससे परे उसका कोई हेतू नहीं है। कर्मयोगी कर्म का त्याग नहीं करता वह केवल कर्मफल का त्याग करता है और कर्म जनित दुःखो से मुक्त हो जाता है। उसकी स्थिति इस संसार में दाता के समान है। और वह कुछ पाने की भी चिंता नहीं करता वह जानता है कि वह दे रहा है और बदले में कुछ नहीं मांगता और इसलिए वह दुख के चंगुल में नहीं पड़ता । वह जानता है कि दुख का बंधन आसक्ती की प्रक्रिया का ही फल हुआ करता है।

गीता में कहा गया है कि मन का समत्त्व भाव ही योग है। जिसमें मनुष्य सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान भाव से चित्त में ग्रहण करता है। कर्मफल का त्याग कर धर्मनिरपेक्ष कार्य का सम्पादन भी पूजा के समान हो जाता है। संसार का कोई भी कार्य ब्रह्म से अलग नहीं है इसलिए कार्य की प्रकृति कोई भी हो निष्काम कर्म सदा ईश्वर को समर्पित हो जाता है। पुनर्जन्म का कारण वासनाओं व अतृप्त कामनाओं का संचय है। कर्म योगी कर्मफल के चक्कर में भी नहीं पड़ता अतः वासनाओं का संचय भी नहीं करता है

कर्मयोग की परिभाषा- वह साधना मार्ग जो बताता है कि-

१- हम कर्म क्यों करते हैं।

२- हमारे कर्म हमें बंधन में क्यों डाल देते हैं।

३-फल में फंसे बिना कर्म कैसे करे।

४-कौन से कर्म माया या जन्म- मृत्यु के चक्र से मुक्त करते हैं।

५- जीवन मुक्त होने के बाद में कर्म करते रहने से क्या महत्व है ।

अन्य परिभाषाएँ -

१-कर्म इस प्रकार करना कि उसका फल आध्यात्मिक उन्नति, मुक्ति तथा ईश्वर प्राप्ति हो।

२-बिना किसी आसक्ति के धर्ममार्ग से कर्मफल की अपेक्षा रखे बिना कर्म करना।

गीता में कर्मयोग-

"गीता" से बहुत पहले जैमीनि अपने मीमांसा-सूत्रों में कर्म की अनिवार्यता का प्रतिपादन कर चुके थे । किन्तु उनकी दृष्टि में कर्म से तात्पर्य केवल याज्ञिक कर्मकांड से था। उनके विचार में समस्त वेद ही कर्मकांड परक है और जो ऐसा नहीं है वह निरर्थक है -

आम्नायस्यक्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। गीता ने भी यज्ञ पर जोर देते हुए यहां तक कहा कि प्रजापति ने पर जो प्रजाओ की सृष्टि यज्ञ के साथ- साथ की और कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम लोग सृष्टि करो और यह तुम्हारी कामनाओं को पूर्ण करें **(२/१०)** किंतु गीता ने यज्ञ को सीमित अर्थ में न लेकर उसके विस्तृत अर्थ में लिया । उसकी दृष्टि में यज्ञ कई प्रकार के होते हैं जैसे द्रव्ययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, और तपोयज्ञ । तात्पर्य यह है कि फलकांक्षा से रहित प्रत्येक कार्य गीता के लिए यज्ञ है इस प्रकार भी के यज्ञ स्वरूप कर्मों के सतत अनुष्ठान का उपदेश ही गीता का मुख्य लक्ष्य या उद्देश्य है।

गीता का यह मान्य सिद्धान्त है कि संसार की कोई वस्तु एक क्षण भर के लिए भी कर्महीन नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु में इस प्रकार के कुछ स्वाभाविक गुण होते हैं जो उसे कर्म करने के लिए बाध्य कर देते हैं-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।
कार्यतेः अध्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

लोकमान्य तिलक ने गीता पर गीता रहस्य या कर्मयोग शास्त्र नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखकर गीता के कर्म -प्रधान दृष्टिकोण पर गंभीर मीमांसा प्रस्तुत की है। उनके मीमांसा विचार में जनक आदि राजर्षियों को अपने जीवन में जो महान सिद्धि मिली है उसका कारण उनकी क कर्मनिष्ठता ही थी।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।।

वास्तव में विचार करके देखा जाय तो किसी भी व्यक्ति का जीवन बिना कर्म के चल नहीं सकता। वह जीवन में में सफलता तभी प्राप्त करता है जब अपने लिए विहित कर्मों का प्रमाद रहित हो सतत अनुष्ठान करता रहे -

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।[1]

कभी-कभी व्यक्ति के लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि उसके लिए विहित कर्म क्या है और क्या अकर्म है । इसे समझने में बुद्धिमान व्यक्ति भी असमर्थ हो जाते है कि -

कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

इसलिए गीता के विचार में अपने लिए विहित कर्म का निर्धारण सोच समझकर ही करना चाहिए।

गीता के विचार में प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए शास्त्र और समाज के विहित कर्म का ही, चाहे वह हो दोषयुक्त क्यों न हो पालन करना चाहिए किन्तु दूसरों के लिए विहित गुणवान कर्म का पालन करना चाहिए ।अपने धर्म पर मर जाना श्रेयस्कर है किंतु दूसरों का धर्म भयावह होता है-

श्रेयान् स्वधर्मो विगुण:परधर्मात् स्वनिष्ठतात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावहः।।

[1] **श्रीमद्भागवत गीता -१८/४५**

'गीता' को इस तथ्य का पता है कि कोन सा कर्म मनुष्य के लिए सांसारिक बन्धन हो जाता है। इसलिए उससे मुक्ति पाने का उपाय उसने ज्ञान के साथ कर्म अनुष्ठान को बताया। गीता कहती हैं कि वास्तविक ज्ञान और कर्म एक ही है उनमें कोई भेद नहीं है।

कर्मयोग का प्रतिपादन गीता में विशद से हुआ है। भारतीय दर्शन में कर्म बंधन का कारण माना गया है ।किंतु कर्म योग में कर्म के उस स्वरूप का निरूपण किया गया है जो बंधन का कारण नहीं होता । योग का अर्थ है- समत्व की प्राप्ति **(समत्वं योग उच्यते)** सिद्धि और असिद्धि में समभाव रखना समत्व कहलाता है। योग का एक अन्य भी अर्थ है वह है कर्मों का कुशलता से संपादन करना **(योग:कर्मे सुकौशलतम्)** इसका अर्थ है इस प्रकार कर्म करना ही कि वह बंधन न उत्पन्न कर सके । अब प्रश्न है कि कौन से कर्म बंधन उत्पन्न करते हैं और कौन से नहीं । गीता के अनुसार जो कर्म निष्काम भाव से ईश्वर के लिए कर्म करना वास्तविक रूप से कर्म योग है और इसका अनुसरण करने से मनुष्य को अभ्युदय व नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है। गीता के अनुसार कर्मों से संन्यास लेने और उनका परित्याग करने की अपेक्षा कर्म योग अधिक श्रेयस्कर है। कर्मों का केवल परित्याग कर देने से मनुष्य सिद्धि अथवा कर्मपद नहीं प्राप्त कर सकता। मनुष्य एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रहता सभी अज्ञानी जीव प्रकृति से उत्पन्न समत्व, रजस्, तमस्, इन तीनों गुणों से नियंत्रित होकर परवस हुए कर्मों में प्रवृत्त किए जाते हैं ।मनुष्य यदि परादृष्टि से कर्म न भी करें और विषयों में लिप्त न भी हो तो भी वह उनका मन से चिंतन करता है। इस प्रकार का मनुष्य झूठ और मिथ्या आचरण करने वाला कहा गया है। कर्म करना मनुष्य के लिए अनिवार्य है उसके बिना शरीर का निर्वाह भी सम्भव नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि तीनों लोकों में उनका कोई कर्तव्य नहीं है। उन्हें कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त करनी नहीं होती फिर भी वह कर्म में संलग्न रहते हैं। यदि वह कर्म ना करे तो मनुष्य भी उनके चलाए हुए मार्ग का अनुसरण करने से निष्क्रिय हो जाएंगे । इससे लोक स्थिति के लिए किए जाने वाले कर्मों का अभाव हो जाएगा। जिसके फलस्वरुप सारी प्रजा नष्ट हो जाएगी। इसीलिए आत्मज्ञानी मनुष्य को भी जो प्रकृति के बंधन से मुक्त हो चुका है सदा कर्म करते रहना चाहिए ।

निष्काम कर्मयोग का विवेचन :-

वैसे तो भगवद्गीता में बहुत सारे पक्षों का विवेचन है जैसे ज्ञान, सन्यास, आत्मा का स्वरूप इत्यादि । परन्तु इसका जो महत्वपूर्ण पक्ष है वह है निष्काम कर्मयोग। यह निष्काम कर्मयोग सभी के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण है। छोटे-2 व्यक्तियों से लेकर बड़े से बड़े पदाधिकारी तक, समाज सेवक, आध्यात्मिक जिज्ञासु सभी के लिये निष्काम कर्मयोग लाभदायी है। यदि पृथ्वी पर सुख शान्ति, समृद्धि का वातावरण आएगा तो वह निष्काम कर्मयोग के द्वारा ही आएगा ।

विवेक सम्मत कर्म :-

कर्म की स्वतन्त्रता ईश्वर ने मानव को देकर उस पर बड़ा उपकार किया। अन्य जीव अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म किया करते है। परन्तु मानव अपने कर्म के चयन में विवेक का उपयोग कर सकता हैं। कर्म का चयन उसके हाथ में है। परन्तु कर्म के फल पर मानव का वश नही चलता। श्रेष्ठ कर्म का चयन करने पर फल शुभ व निम्न कोटि के कर्म अशुभ फल प्रदान करते है। इसे मानव भी परिवर्तित नही कर सकता है।

इस सन्दर्भ में गीता के श्लोक में कहा है–

"कर्मण्येवाधिकारेस्ते मा फलेषु कदाचन"[2]

इसलिये हे मानव कर्म करते हुए सावधान रहे क्योंकि तुझको कर्म का अधिकार है फल का नहीं। रामचरित मानस में भी कहा है–

इहाँ न कोऊ सुख दुख कर दाता ।
जो उस करई तो तस फलु चाखा ।[3]

प्रत्येक व्यक्ति अपने ही कर्मों से सुख दुख भोग रहा है ।

कर्म फल का हेतू मत बन

इस सन्दर्भ में श्रीमदभगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में श्लोक है–

"मा कर्मफल हेतु भुर्मी ते संगोस्त्वकर्मणि"[4]

भगवान कहते है कि कर्मफल का हेतू स्वयं को मत बनाओ अर्थात् स्वयं को अथवा व्यक्तिगत इच्छाओ को आधार बनाकर कर्म मत करो अर्थात् जन कल्याण, आत्म कल्याण हेतू कर्म किए जाए ये कैसे सम्भव है इसका विस्तार करते है—

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्रः लोकोऽयं कर्म बन्धनः"[5]

अर्थात् यज्ञार्थ कर्म करो परमार्थ वश कर्म करो ।

आज के इस युग में किस प्रकार कर्म योग का क्रियान्वयन संभव है। इसका बड़ा सुन्दर समाधान भी गीता में किया गया है कि योग में स्थित होकर कर्म करे । श्रीमदभागवद् में कहा है—

योगस्थः कुरू कर्माणि संग व्यक्तवा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।।[6]

अर्थात् इस योग में स्थित होकर सब प्रकार की आशक्तियों का त्याग करना होता है व समता की भावना का विकास अपने अन्दर करना होता है ।

योग में स्थित होने का अर्थ है परमात्म चेतना के साथ जुड़कर कर्म करना । ब्रह्म चेतना के साथ जुड़ने से व्यक्ति के भीतर तेज की वृद्धि होती है। व्यक्ति का जीवन ब्रह्म कमल की भाँति खिलने लगता है। अतः मानव को योग में स्थित होकर कर्म करना चाहिये ।

भगवान श्री कृष्ण ने गीता में कहा है–

सर्वभूत स्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।[7]

अर्थात् जो पुरूष अनेकता से परे एकत्व भाव से मुझ परमात्मा को भजता है, वह योगी सब प्रकार के कार्यों को करता हुआ मुझ में ही बसता है। वह जो कुछ भी करता है मेरे संकल्प से ही करता है।

---

[2] **श्रीमद्भागवत गीता-२/४७**

[3] **रामचरितमानस -6**

[4] **श्रीमद्भागवत गीता-२/४७**

[5] **श्रीमद्भागवत गीता -३/९**

[6] **श्रीमद्भागवत गीता २/४८**

[7] **श्रीमद्भागवत गीता ६/३१**

गीता में तीन प्रकार के कर्मयोग कहे गये है:-
जिस प्रकार ऊपर सांख्यनिष्ठा के चार विभाग किये गये हैं, उसी प्रकार योगनिष्ठा के भी तीन मुख्य भेद हैं

१- कर्मप्रधान कर्मयोग ।

२- भक्तिमिश्रित कर्मयोग ।

३- भक्तिप्रधान कर्मयोग ।

१- कर्मप्रधान कर्मयोग -

समस्त कर्मों में और सांसारिक पदार्थों में फल और आसक्ति का सर्वथा त्याग करके अपने वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविहित कर्म करते रहना ही कर्मप्रधान कर्मयोग है। इसके उपदेश में कहीं-कहीं भगवान् ने केवल फल के त्याग की बात कही है **(५/१२, ६/१. १२/११, १८/११),** कहीं केवल आसक्ति के त्याग की बात कही है **(३/१९, ६/४)** और कहीं फल और आसक्ति दोनों के छोड़ने की बात कही है (२/४७, ४८, १८/६, ९) । जहाँ केवल फल के त्याग की बात की गयी हैं, वहाँ आसक्ति के त्याग की बात भी साथ में समझ लेनी चाहिये और जहाँ केवल आसक्ति के त्याग की बात कही है, वहाँ फल के त्याग की बात भी समझ लेनी चाहिये। कर्मयोग का साधन वास्तव में तभी पूर्ण होता है जब फल और आसक्ति दोनों का ही त्याग होता है ।

२- भक्तिमिश्रित कर्मयोग-

इसमें सारे संसार में परमेश्वर को व्याप्त समझते हुए अपने-अपने वर्णोंचित कर्म के द्वारा भगवान् की पूजा करने की बात कही गयी है **(१८/४६)** इसलिये इसको भक्तिमिश्रित कर्मयोग कह सकते हैं ।

३-भक्ति प्रधान कर्मयोग- इसके दो अवान्तर भेद हैं

(क) भगवदर्पण कर्म

(ख) भगवदर्थ कर्म

भगवदर्पण कर्म भी दो तरह से किया जाता है। पूर्ण 'भगवदर्पण' तो वह है जिसमें समस्त कर्मों में ममता, आसक्ति और फलेच्छा को त्याग कर तथा यह सब कुछ भगवान् का हैं, मैं भी भगवान् का हूँ और मेरे द्वारा जो कर्म होते हैं वे भी भगवान् ही हैं, भगवान् ही मुझसे कठपुतली की भाँति सब कुछ करवा रहे हैं- ऐसा समझते हुए भगवान् के आज्ञानुसार भगवान् की ही प्रसन्नता के लिये शास्त्रविहित कर्म किये जाते हैं **(३/३०, १२/६, १८/५७,६६) ।**

इसके अतिरिक्त पहले किसी दूसरे उद्देश्य से किये हुए कर्मों को पीछे से भगवान् को अर्पण कर देना, कर्म करते-करते बीच में ही भगवान् को अर्पण कर देना, कर्म समाप्त होने के साथ-साथ भगवान् को अर्पण कर देना अथवा कर्मों का फल मात्र भगवान् को अर्पण कर देना-यह भी 'भगवदर्पण' का ही प्रकार है, यह भगवदर्पण की प्रारम्भिक सीढ़ी है। ऐसा करते-करते ही उपर्युक्त पूर्ण भगवदर्पण होता है ।

भगवदर्थ कर्म भी दो प्रकार के होते हैं-

जो शास्त्रविहित कर्म भगवत् प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा भगवान् की प्रसन्नता के लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं वे तथा जो भगवान् के विग्रह आदि का अर्चन तथा भजन-ध्यान आदि उपासना रूप कर्म जो भगवान् के ही निमित्त किये जाते हैं और स्वरूप से भी भगवत्सम्बन्धी होते हैं, वे दोनों ही 'भगवदर्थ' कर्म के अन्तर्गत हैं। इन दोनों प्रकार के कर्मों का 'मत्कर्म' और 'मदर्थ कर्म' नाम से भी गीता में उल्लेख हुआ है **(११/५५, १२/१०)।**

जिसे अनन्य भक्ति अथवा भक्ति योग कहा गया है **(८/१४,२२, ९/१३,१४,२२,३०,३४, १०/९, १३/१०, १४/२६)** वह भी 'भगवदर्पण' और 'भगवदर्थ' इन दोनों कर्मों में ही सम्मिलित है। इन सबका फल एक भगवत्प्राप्ति ही है।

अब प्रश्न यह होता है कि योगनिष्ठा स्वतंत्र रूप से भगवत्प्राप्ति करा देती है या ज्ञान निष्ठा का अंग बनकर । इसका उत्तर यह है कि गीता को दोनों ही बातें मान्य हैं अर्थात् भगवद्गीता योग निष्ठा को भगवत्प्राप्ति यानी मोक्ष का स्वतन्त्र साधन भी मानती है और ज्ञान निष्ठा में सहायक भी । साधक चाहे तो बिना ज्ञाननिष्ठा की सहायता के सीधे ही कर्मयोग से परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है अथवा कर्मयोग के द्वारा ज्ञान निष्ठा को प्राप्त कर फिर ज्ञान निष्ठा के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है। दोनों में वह कौन-सा मार्ग ग्रहण करे, यह उनकी रूचि पर निर्भर है। योगनिष्ठा स्वतन्त्र साधन है,

इस बात को भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा है **(५/४, ५ तथा १३/२४)** । भगवान् में चित्त लगाकर भगवान् के लिये ही कर्म करने वाले को मगवान् की कृपा से भगवान् मिल जाते हैं, यह बात भी जगह-जगह भगवान् ने कही है **(८/७,११/५४,५५,१२/६,८)।**

इसी प्रकार निष्काम कर्म और उपासना- दोनों ही ज्ञान निष्ठा के अंग भी बन सकते हैं **(५/६,१४/२६)।** किंतु ज्ञान योग में अभेद उपासना है, इसलिये ज्ञान निष्ठा भेद उपासना रूप भक्ति योग का यानी योग निष्ठा का अंग नहीं बन सकती। यह दूसरी बात है कि किसी ज्ञान निष्ठा के साधक की आगे चलकर रूचि अथवा मत बदल जाय और वह ज्ञान निष्ठा को छोड़ कर योग निष्ठा को पकड़ ले और उसे फिर योग निष्ठा के द्वारा ही भगवत्प्राप्ति हो ।

यदि कोई पूछे कि कर्मयोग का साधन करके फिर सांख्य योग के साधन द्वारा जो सच्चिदानन्द धन परमात्मा को प्राप्त होते हैं, उनकी प्रणाली कैसी होती है तो इसे जाने के लिये 'त्याग' के नाम से सात श्रेणियों में विभाग करके उसे यों समझना चाहिये-

(१) निषिद्ध कर्मों का सर्वथा त्याग

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्य , भोजन और प्रमाद आदि शास्त्र निषिद्ध नीच कर्मों को मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी न करना- यह पहली श्रेणी का त्याग है।

(२) काम्य कर्मों का त्याग

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के एवं रोग-संकटादिकी निवृत्ति के उद्देश्य से किये जाने वाले यज्ञ, दान, तप, तप और उपासना आदि सकाम कर्मों को अपने स्वार्थ के लिये न करना-यह दूसरी श्रेणी का त्याग है।

यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाये, जो स्वरूप से तो सकाम हो, परंतु उसके न करने से किसी को कष्ट पहुँचता हो या कर्म-उपासना की परम्परा में किसी प्रकार की बाधा आती हो तो स्वार्थ का त्याग करके केवल लोक संग्रह के लिये उसे कर लेना सकाम कर्म नहीं है ।

(३) तृष्णा का सर्वथा त्याग

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़ने की इच्छा को भगवत्प्राप्ति में बाधक समझकर उसका त्याग करना। यह तीसरी श्रेणी का त्याग है।

(4) स्वार्थ के लिये दूसरों से सेवा कराने का त्याग

अपने सुख के लिये किसी से भी धनादि पदार्थों की अथवा सेवा कराने की याचना करना एवं बिना याचना के दिये हुए किसी प्रकार भी किसी से अपना स्वार्थ सिद्ध करने की मन में इच्छा रखना- आदि जो स्वार्थ के लिये दूसरों से सेवा कराने के भाव है, उन सबका त्याग करना-यह चौथी श्रेणी का त्याग है ।

यदि कोई ऐसा अवसर योग्यता से प्राप्त हो जाय कि शरीर सम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थों को स्वीकार न करने से किसी को कष्ट पहुँचता हो या लोक शिक्षा में किसी प्रकार की बाधा आती हो तो उस अवसर पर स्वार्थ का त्याग करके केवल उनकी प्रीति के लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है, क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदि से की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदि द्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थों को स्वीकार न करने से उनको कष्ट होना एवं लोकमर्यादा में बाधा पड़ना सम्भव है।

(५) सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों में आलस्य और फल की इच्छा का सर्वथा त्याग

ईश्वर भक्ति, देवताओं का पूजन, माता-पितादि गुरूजनों की सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रम के अनुसार आजीविका एवं शरीर-सम्बन्धी खान-पान आदि जितने कर्तव्य-कर्म हैं. उन सबमें आलस्यका और सब प्रकार की कामना का त्याग करना-यह पाँचवीं श्रेणी का त्याग है।

(6) संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में और कर्मों में ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग

धन, मकान और वस्त्रादि सम्पूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि सम्पूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा आदि इस लोक के और परलोक के जितने विषय- भोगरूप पदार्थ हैं, उन सबको क्षणभंगुर और नाशवान् होने के कारण अनित्य समझ कर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक परमात्मा में ही अनन्य भाव से विशुद्ध प्रेम होने के कारण मन, वाणी और शरीर के द्वारा होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं में और शरीर में भी ममता और आसक्ति का सर्वथा अभाव हो जाना-यह छठी श्रेणी का त्याग है।

उक्त छठी श्रेणी के त्याग को प्राप्त हुए पुरूषों का संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेम मय भगवान् में ही अनन्य प्रेम हो जाता है। इसलिये उनको भगवान् के गुण, प्रभाव और रहस्य से भरी हुई विशुद्ध प्रेम के विषय की कथाओं का सुनना-सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देश में रहकर निरन्तर भगवान् का मजन, ध्यान और शास्त्रों के मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है । विषयासक्त मनुष्यों में रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषय-मोग और व्यर्थ बातों में अपने अमूल्य समय का एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता एवं उनके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म भगवान् के स्वरूप और नाम का मनन रहते हुए ही बिना आसक्ति के केवल भगवदर्थ होते है।

यह कर्मयोग साधन है, इस साधन के करते-करते ही साधक परमात्मा की कृपा से परमात्मा के स्वरूप को तत्वतः जानकर अविनाशी परमपद को प्राप्त हो जाता है **(१८/५६)।** किंतु यदि कोई सांख्ययोग के द्वारा परमात्मा को प्राप्त करना चाहे तो उसे उपर्युक्त साधन करने के अनन्तर निम्नलिखित सातवीं श्रेणी की प्रणाली के अनुसार सांख्य-योग का साधन करना चाहिए ।

(7) संसार, शरीर और सम्पूर्ण कर्मों में सूक्ष्म वासना और अहंभाव का सर्वथा त्याग

संसार के सम्पूर्ण पदार्थ माया के कार्य होने से सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभाव से परिपूर्ण हैं- ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीर सहित संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में और सम्पूर्ण कर्मों में सूक्ष्म वासना का सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्तःकरण में उनके चित्रों का संस्कार रूप से भी न रहना एवं शरीर में अहंभाव का सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कपिन के अभिमान का लेशमात्र भी न रहना तथा

इस प्रकार शरीर सहित सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मों में वासना और अहंभाव का अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदान-दघन परमात्मा के स्वरूप में ही एकीभाव से नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना-यह सातवीं श्रेणी का त्याग है।

इस प्रकार साधन करने से वह पुरूष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा को सुखपूर्वक प्राप्त हो जाता है **(६/२८)**। किंतु जो पुरूष उक्त प्रकार से कर्मयोग का साधन न करके आरम्भ से ही ही सांख्ययोग का साधन करता है, वह परमात्मा को कठिनता से प्राप्त होता है ।

सन्न्यासस्तु महाबहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।[8]

यहाँ यह प्रश्न होता है कि कोई साधक एक ही समय में दोनों निष्ठाओं के अनुसार साधन कर सकता है या नहीं-यदि नहीं तो क्यों ? इसका उत्तर यह कि-सांख्ययोग और कर्मयोग-इन दोनों साधनों का सम्पादन एक काल में एक ही पुरुष के द्वारा नहीं किया जा सकता। क्योंकि कर्मयोगी साधनकाल में कर्मको, कर्मफल को. परमात्मा को और अपने को भिन्न-भिन्न मानकर कर्मफल और आसक्ति का त्याग करके ईश्वरार्थ या ईश्वरार्पणबुद्धि से समस्त कर्म करता है **(३/३०,५/१०,११/५५,१२/१०,१८/५६,५७)**और सांख्योगी माया से उत्पन्न सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरत रहे है अथवा इन्द्रियाँ ही इन्द्रियों के अर्थों में बरत रही हैं-ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीर केद्वारा होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान से रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा के स्वरूप में अभिन्न भाव से स्थित रहता है **(३/२८,५/१३,१३/२९,१४/१९,२०१८/४९,५५)।** कर्मयोगी अपने को कर्मों का कर्ता मानता है **(५/११)** सांख्ययोगी कर्ता नहीं मानता **(५/८,९)** । कर्मयोगी अपने कर्मों को भगवान् के अर्पण करता है **(९/२७,२८)**, सांख्ययोगी मन और इन्द्रियों के द्वारा होने वाली अहंतारहित क्रियाओं को कर्म ही नहीं मानता **(१८/१७)**। कर्मयोगी परमात्मा को अपने से पृथक् मानता है **(१२/१०)** , सांख्ययोगी सदा अभेद मानता है **(१८/२०)**। कर्मयोगी प्रकृति और प्रकृति के पदार्थों की सत्ता स्वीकार करता है ((**१८/६१)**सांख्ययोगी एक ब्रह्म के सिवा किसी की भी सत्ता नहीं मानता **(१३/३०)** । कर्मयोगी कर्मफल और कर्म की सत्ता मानता है, सांख्ययोगी न तो ब्रह्म से भिन्न कर्म और उनके फल की सत्ता ही मानता है और न उनसे अपना कोई सम्बन्ध ही समझता है। इस प्रकार इस प्रकार दोनों की साधन-प्रणाली और मान्यता में पूर्व और पश्चिम की भाँति महान् अन्तर है। ऐसी अवस्था में दोनों निष्ठाओं का साधन एक पुरुष एक काल में नहीं कर सकता। जैसे किसी मनुष्य को भारतवर्ष से अमेरिका के न्यूयार्क शहर को जाना है तो वह यदि ठीक रास्ते होकर यहाँ से पूर्व-ही-पूर्व दिशा में जाता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा और पश्चिम-ही पश्चिम की ओर चलता रहे तो भी अमेरिका पहुँच जायगा, वैसे ही सांख्ययोग और कर्मयोग की साधन-प्रणाली में परस्पर भेद होने पर भी जो मनुष्य किसी एक साधन में दृढ़तापूर्वक लगा रहता है, वह दोनों के ही एकमात्र परम लक्ष्य परमात्मा तक शीघ्र पहुँच जाता है, **(५/४)** ।

निष्कर्ष -

गीता के तृतीय अध्याय को कर्मयोग की संज्ञा दी गयी है। इस अध्याय में नाना प्रकार के हेतुओं से विहित कर्मों की अवश्यकर्त्तव्यता सिद्ध की गयी है। प्रत्येक मनुष्य को अपने-अपने वर्ण-आश्रम के लिए विहित कर्म किस प्रकार करने चाहिये, क्यो करने चाहिये, इस प्रकार इस अध्याय में कर्मयोग का विषय अन्यान्य अध्यायों की अपेक्षा अधिक और विस्तारपूर्वक वर्णित है। इसलिए इस अध्याय का नाम कर्मयोग रखा गया है।

---

[8] **श्रीमद्भागवत गीता -५/६**